नील का धब्बा

गांधीजी

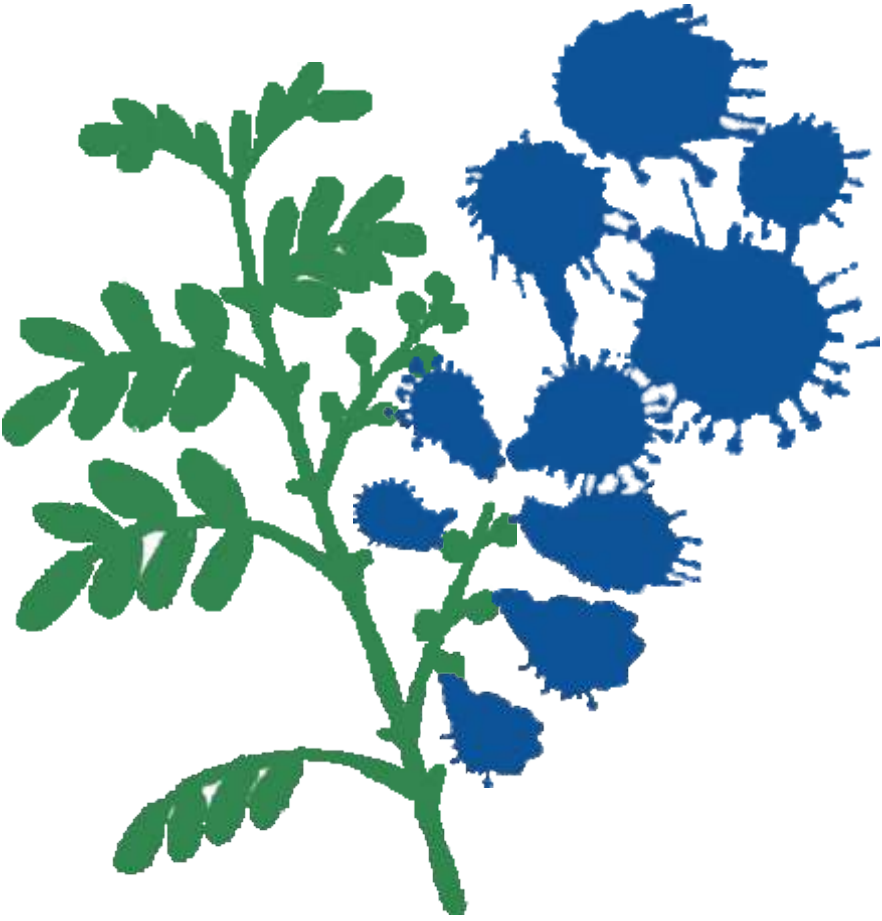

संस्थाएं नारायण-परायण बनें

विनोबा

नील का धब्बा

गांधीजी

हरा, पीला, लाल, सफेद, काला— ये सभी रंग प्रकृति में आसानी से मिल जाते हैं। पर नीला रंग मिलना सबसे मुश्किल रहा है। इसीलिए नीला रंग दे सकने वाले पौधे पर सबकी नजर टिक गई थी। व्यापारी की भी और शोषण करने वालों की भी। मारा गया किसान। नील के पौधे की खेती बिहार के चंपारण क्षेत्र में होती रही है। दुनिया की मांग का एक बड़ा भाग चंपारण से पैदा होता था और इसका सारा लाभ नील की खेती करने वाले किसानों को नहीं, बल्कि जबरन खेती करवाने वाले निलहों को जाता था। शोषण का यह धब्बा धोए नहीं धुलता था। पर गांधीजी ने इसे किस सावधानी के साथ, किस तरह की अहिंसा से, किस तरह की निडरता और किस तरह की विनम्रता से धोया— यह उन्हीं के शब्दों में पढ़ें।

चंपारन राजा जनक की भूमि है। चंपारन में जैसे आमों के वन हैं, वैसे वहां सन् 1917 में नील के खेत थे। चंपारन के किसान अपनी ही जमीन के 3/20 हिस्से में नील की खेती उसके असल मालिक के लिए करने को कानून से मजबूर थे। इस प्रथा को 'तिनकठिया' कहते थे। बीस कट्ठे का वहां का एक एकड़ था और उसमें तीन कट्ठे की बोआई का नाम था 'तिनकठिया का रिवाज'।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वहां जाने के पहले मैं चंपारन का नाम तक नहीं जानता था। वहां नील की खेती होती है, इसका ख्याल भी नहीं के बराबर ही था। नील की गोटियां देखी थीं, पर यह चंपारन में बनती हैं और उसके कारण हजारों किसानों को कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी तनिक भी खबर नहीं थी।

राजकुमार शुक्ल चंपारन के एक किसान थे। उन पर दुख पड़ा। यह दुख उन्हें खलता था। पर इस दुख से उनके भीतर नील का धब्बा सब के लिए धो डालने की आग जली।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वहां जाने के पहले मैं चंपारन का नाम तक नहीं जानता था। वहां नील की खेती होती है, इसका ख्याल भी नहीं के बराबर ही था। नील की गोटियां देखी थीं, पर यह चंपारन में बनती हैं और उसके कारण हजारों किसानों को कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी तनिक भी खबर नहीं थी।

लखनऊ की महासभा में मैं गया था, वहीं इन किसानों ने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकील बाबू आपको सब हाल बताएंगे", यह कहते जाते और मुझे चंपारन आने का न्योता देते जाते थे। वकील बाबू से मतलब था मेरे चंपारन के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण ब्रजकिशोर बाबू। राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तंबू में लाए। उन्होंने काले आलपाके की अचकन, पतलून वगैरा पहन रखी थी। मेरे मन पर उनकी कोई अच्छी छाप न पड़ी। मैंने मान लिया— "वह भोले किसानों को लूटने वाले कोई वकील साहब होंगे।"

मैंने चंपारन की कथा उनसे थोड़ी-सी सुनी। अपनी साधारण रीति के अनुसार मैंने जवाब दिया, "खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप महासभा में बोलिएगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिए।" राजकुमार शुक्ल को महासभा की मदद की तो जरूरत थी ही। चंपारन के बारे में महासभा में ब्रजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूति प्रकाश का प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल को खुशी हुई। पर इतने से ही उन्हें संतोष नहीं

हुआ। वह तो खुद मुझे चंपारन के किसानों का दुख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा, "अपने दौरे में मैं चंपारन को भी शामिल कर लूंगा और एक-दो दिन दूंगा।" उन्होंने कहा, "एक दिन काफी होगा, अपनी नजरों से देखिए तो सही।"

लखनऊ से मैं कानपुर गया। वहां भी राजकुमार शुक्ल मौजूद थे। "यहां से चंपारन बहुत नजदीक है, एक दिन दे दीजिए।" "अभी मुझे माफ करें। पर मैं आऊंगा यह वचन देता हूं।" यह कहकर मैं अधिक बंध गया।

मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहां भी मेरे पीछे लगे हुए थे। "अब तो दिन मुकर्रर कीजिए।" मैंने कहा, "जाइए, मुझे फलां तारीख को कलकत्ते जाना है, वहां आइएगा और मुझे ले जाइएगा।" कहां जाना, क्या करना, क्या देखना है, इसका मुझे कुछ पता नहीं था। कलकत्ते में भूपेन बाबू के यहां मेरे पहुंचने के पहले उन्होंने वहां डेरा डाल रखा था। इस अपढ़, अनगढ़ पर निश्चयवान् किसान ने मुझे जीत लिया।

इन मुकदमों को पढ़ जाने के बाद मेरा मत तो यह है कि अब ये मुकदमें लड़ना हमें बंद ही कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमों से फायदा बहुत कम होता है। जो रैयत इतनी कुचली हुई हो, जहां सब इतने भयभीत रहते हों, वहां कचहरियों के जरिए थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगों का डर निकालना उनके रोग की असली दवा है।

सन् 1917 के आरंभ में कलकत्ते से हम दोनों जने रवाना हुए। दोनों की एक-सी जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही लगते थे। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ी में ले गए, उसमें हम दोनों घुसे। सबेरे पटने में उतरे।

पटने की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां मेरा किसी से ऐसा परिचय नहीं था कि उसके घर टिक सकूं। मेरे मन में था कि राजकुमार शुक्ल यद्यपि अनपढ़ किसान हैं तथापि उनका कोई वसीला तो होगा ही। ट्रेन में मुझे उन्हें कुछ अधिक जानने का मौका मिला। पटने में उनका परदा खुल गया। राजकुमार बिल्कुल भोले थे। उन्होंने जिन्हें मित्र मान रखा था,

वे वकील उनके मित्र नहीं थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित सरीखे थे। किसान मुवक्किल और वकीलों के बीच तो चौमासे की गंगा के चौड़े पाट के जितना अंतर था।

मुझे वह राजेंद्र बाबू के यहां लिवा गए। राजेंद्र बाबू पुरी या और कहीं गए हुए थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। खाने को कुछ मेरे पास था। मुझे खजूर की जरूरत थी। वह बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजार से लाए।

पर बिहार में तो छुआछूत का बड़ा जोर था। मेरे डोल के पानी के छींटों से नौकर को छूत लग जाती थी। नौकर को क्या मालूम कि मैं किस जाति का हूं। राजकुमार ने अंदर का पाखाना काम में लाने को कहा। नौकर ने बाहर के पाखाने की ओर अंगुली दिखाई। मेरे लिए इसमें कहीं परेशानी या रोष का कारण नहीं था। ऐसे अनुभवों में मैं पक्का हो गया था। नौकर तो अपने धर्म का पालन कर रहा था और राजेंद्र बाबू के प्रति उसका जो फर्ज था, उसे बजाता था। इन मनोरंजक अनुभवों से राजकुमार शुक्ल के लिए मेरे मन में आदर बढ़ा। उसी के साथ उनके विषय में मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटने से मैंने लगाम अपने हाथ में ले ली।

मौलाना मजहरुल हक और मैं कभी लंदन में साथ पढ़ते थे। उसके बाद हम बंबई में सन् 1915 की कांग्रेस में मिले थे। उस साल वह मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। उन्होंने पुराना परिचय बताकर कहा था कि आप कभी पटने आएं तो मेरे यहां अवश्य पधारेंगे। इस निमंत्रण के आधार पर मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपना काम बतलाया। वह तुरत अपनी मोटर लाए और मुझे अपने यहां ले जाने का आग्रह किया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि जहां मुझे जाना है वहां आप पहली ट्रेन से मुझे रवाना कर दें। रेलवे गाइड से मुझे कुछ पता नहीं चल सकता था। उन्होंने राजकुमार शुक्ल से बातें कीं और बताया कि मुझे पहले तो मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन, शाम को मुजफ्फरपुर जो ट्रेन जाती थी, उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया।

आचार्य कृपलानी उन दिनों मुजफ्फरपुर में ही रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। मैं जब हैदराबाद गया तब उनके महान त्याग की, उनके

जीवन की और उनके पैसे से चलने वाले आश्रम की बात डा. चोइथराम की जबानी सुनी थी। वे मुजफ्फरपुर कॉलेज में प्रोफेसर थे। इन दिनों उससे अलग होकर बैठे थे। मैंने उन्हें तार दिया। मुजफ्फरपुर ट्रेन आधी रात को पहुंचती थी। वे अपने शिष्यमंडल को लेकर स्टेशन पर उपस्थित थे। पर उनके घर-बार नहीं था। वे अध्यापक मलकानी के यहां रहते थे। मुझे उनके यहां ले गए। मलकानी वहां के कॉलेज में प्रोफेसर थे और उस समय के वातावरण में सरकारी कॉलेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहां टिकाना, यह असाधारण बात मानी जा सकती है।

कृपलानीजी ने बिहार की और उसमें भी तिरहुत विभाग की दीन-दशा का वर्णन किया और मेरे काम की कठिनाई का अंदाजा कराया। कृपलानीजी ने बिहार के साथ गहरा संबंध जोड़ लिया था। उन्होंने मेरे काम की बात उन लोगों से कर रखी थी। सबेरे छोटा-सा वकील-मंडल मेरे पास आया। उनमें से रामनवमी प्रसाद मुझे याद रह गए हैं। उन्होंने अपने आग्रह से मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा।

"आप जो काम करने आए हैं, वह यहां से नहीं होने का। आपको हम जैसों के यहां ठहरना चाहिए। गया बाबू यहां के नामी वकील हैं। आपसे, उनकी ओर से मैं यहां उतरने का आग्रह करता हूं। हम सब सरकार से डरते तो जरूर हैं, पर हमसे जितनी बनेगी, उतनी मदद हम आपको देंगे। राजकुमार शुक्ल की बहुत-सी बातें सच्ची ही हैं। दुख यह है कि हमारे अगुआ आज यहां नहीं हैं। बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद और राजेन्द्र प्रसाद को मैंने तार दिया है। दोनों यहां तुरत आ जाएंगे और आपको पूरी बातें बताएंगे और मदद दे सकेंगे। मेहरबानी करके आप गया बाबू के यहां चलें।"

इस भाषण से मैं लुभाया। मुझे ठहराने से गया बाबू कठिनाई में न पड़ जाएं, इस डर से मुझे संकोच होता था, पर गया बाबू ने मुझे निश्चिंत कर दिया। मैं गया बाबू के यहां गया। उन्होंने और उनके कुटुंबियों ने मुझे अपने प्रेम से सराबोर कर दिया।

ब्रजकिशोर बाबू दरभंगे से आए। राजेंद्र बाबू पुरी से आए। यहां देखा तो वह लखनऊ वाले ब्रजकिशोर प्रसाद नहीं थे। उनमें बिहारवासी

की नम्रता, सादगी, भलमनसी, असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। बिहारी वकील मंडल का ब्रजकिशोर बाबू के प्रति आदर देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ।

इस मंडल के और मेरे बीच जन्म-भर के लिए स्नेहगांठ बंध गई।

ब्रजकिशोर बाबू ने मुझे सारी बातों से वाकिफ कराया। वह गरीब किसानों के लिए मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे चल रहे थे। ऐसे मुकदमों की पैरवी करके वह कुछ व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे। कभी-कभी उसमें भी नाकामयाब हो जाते थे। इन भोले किसानों से मेहनताना तो लेते ही थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोर बाबू या राजेंद्र बाबू मेहनताना लेने में संकोच नहीं रखते थे। उनकी दलील यह थी कि पेशे के काम में मेहनताना न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगों को मदद भी नहीं कर सकते। उनके मेहनताने के तथा बंगाल के और बिहार के बैरिस्टरों को दिए जाने वाले मेहनताने के कल्पना में न आ सकने वाले आंकड़े सुनकर मैं सुन्न हो गया।

"...साहब को हमने 'ओपीनियन' (राय) के लिए दस हजार रुपए दिए।" हजार से कम की तो बात ही मैंने नहीं सुनी।

इस मित्रमंडल ने इस संबंध में मेरा मीठा उलाहना स्नेह-सहित सुन लिया। इसका उन्होंने विपरीत अर्थ नहीं लिया।

मैंने कहा— "इन मुकदमों को पढ़ जाने के बाद मेरा मत तो यह है कि अब ये मुकदमे लड़ना हमें बंद ही कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमों से फायदा बहुत कम होता है। जो रैयत इतनी कुचली हुई हो, जहां सब इतने भयभीत रहते हों, वहां कचहरियों के जरिए थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगों का डर निकालना उनके रोग की असली दवा है। यह 'तिनकठिया' प्रथा न जाए तब तक हम चैन से नहीं बैठ सकते। मैं तो दो दिन में जितना देखा जा सके, उतना देखने आया हूं। पर अब देखता हूं कि यह काम तो दो साल भी ले सकता है। इतना समय लगे तो भी मैं देने को तैयार हूं। इस काम में क्या करना चाहिए यह तो मैं सोच सकता हूं। लेकिन आपकी मदद की जरूरत है।

ब्रजकिशोर बाबू को मैंने बहुत ठंडे दिमाग का आदमी पाया। उन्होंने

शांति से जवाब दिया— "हमसे जो मदद हो सकेगी वह हम देंगे। पर वह किस तरह की होनी चाहिए, यह हमें समझाइए।"

हमने इस बातचीत में रात बिता दी। मैंने कहा— "मुझे आपकी वकालत की योग्यता का थोड़ा ही उपयोग होगा। आप-जैसों से मैं तो मुहर्रिर और दुभाषिये का काम चाहूंगा। इसमें जेल जाने की संभावना भी मुझे दिखाई देती है। मैं यह पसंद करूंगा कि आप यह जोखिम उठाएं। लेकिन आप उसे न लेना चाहें तो न लें। पर वकील न रहकर मुहर्रिर बनाना और अपना धंधा अनिश्चित अवधि के लिए छोड़ देना, यह मेरी कोई छोटी मांग नहीं है। यहां की हिंदी बोली समझने में मुझे भारी कठिनाई होती है। कागज-पत्र सब कैथी या उर्दू में लिखे हुए होते हैं, जिन्हें मैं नहीं पढ़ सकता। इनका उल्था कर देने की मैं आपसे आशा रखता हूं। यह काम पैसे देकर करा सकना मुमकिन नहीं है। यह बस सेवाभाव से और बिना पैसे के होना चाहिए।

ब्रजकिशोर बाबू समझ गए। लेकिन उन्होंने मुझसे और अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातों के गर्भितार्थ पूछे। मेरे अंदाजे के अनुसार वकीलों को कब तक त्याग करना होगा, कितनों की जरूरत होगी, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए आएं तो काम चलेगा या नहीं, इत्यादि प्रश्न पूछे। वकीलों से पूछा कि आप लोग कितना त्याग कर सकते हैं?

अंत में उन्होंने यह निश्चय जताया— "हम इतने आदमी, आप जो काम सौंपेंगे, वह कर देने को तैयार रहेंगे। इनमें से जितनों को जिस समय मांगिएगा, उतने आपके पास रहेंगे। जेल जाने की बात नई है। उस बारे में हम शक्ति प्राप्त करने की कोशिश करेंगे।"

मुझे तो किसानों की हालत की जांच करनी थी। नील की कोठियों के मालिक गोरों (निलहों) के खिलाफ जो शिकायतें थीं, उनमें कितनी सचाई है, यह देखना था। इस काम के सिलसिले में हजारों किसानों से मिलने की जरूरत थी, पर उनसे इस प्रकार मिलने के पहले नील के मालिकों की बात सुन लेना और कमिश्नर से मिलना मैंने जरूरी समझा। दोनों को चिट्ठी लिखी।

मालिकों के मंत्री ने मुलाकात के समय साफ कह दिया कि आप परदेशी हैं, आपको हमारे और किसानों के बीच में दखल नहीं देना चाहिए। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो तो मुझे लिखकर जताइएगा। मैंने मंत्री से नम्रतापूर्वक कहा कि मैं अपने को परदेशी नहीं मानता और किसान चाहें तो उनकी हालत की जांच करने का मुझे पूरा अधिकार है। कमिश्नर साहब से मिला। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू कर दिया और मुझे आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ देने की सलाह दी।

जिस दिन हम पहुंचे, उसी दिन सुना कि मोतिहारी से कोई पांच मील दूर एक किसान रहता था, उस पर जुल्म हुआ था। यह तै हुआ कि उसे देखने को मैं धरणीधर प्रसाद वकील को लेकर सुबह जाऊं। हम सबेरे हाथी पर सवार होकर निकल पड़े। चंपारन में हाथी का उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरात में बैलगाड़ियों का।

मैंने साथियों को सब बातें बताकर कहा कि जांच करने में मुझे सरकार रोकेगी, ऐसी संभावना है और जेल-यात्रा का समय मैंने जो सोचा था, उससे जल्दी भी आ सकता है। अगर मुझे अपने आपको गिरफ्तार कराना ही हो तो मुझे मोतिहारी और मुमकिन हो तो बेतिया में गिरफ्तार कराना चाहिए। और इससे जहां तक जल्दी मुमकिन हो वहां पहुंचना चाहिए।

चंपारन तिरहुत कमिश्नरी का एक जिला है और मोतिहारी उसका सदर मुकाम। बेतिया के आसपास राजकुमार शुक्ल का घर था और उसके आसपास की कोठियों के किसान सबसे ज्यादा कंगाल थे। उनकी दशा दिखाने का राजकुमार शुक्ल को लोभ था और मुझे अब उसे देखने की इच्छा थी।

अतः साथियों को लेकर मैं उसी दिन मोतिहारी के लिए रवाना हो गया। मोतिहारी में गोरख बाबू ने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों-त्यों करके उसमें अंट सकते थे। जिस दिन हम पहुंचे, उसी दिन सुना कि मोतिहारी से कोई पांच मील दूर एक किसान रहता था, उस पर जुल्म हुआ था। यह तै हुआ कि उसे देखने को मैं

धरणीधर प्रसाद वकील को लेकर सुबह जाऊं। हम सबेरे हाथी पर सवार होकर निकल पड़े। चंपारन में हाथी का उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरात में बैलगाड़ियों का। आधे रास्ते पहुंचे होंगे कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट का आदमी आ पहुंचा और मुझसे बोला— "आपको सुपरिंटेंडेंट साहब ने सलाम दिया है।" मैं समझ गया। धरणीधर बाबू को मैंने आगे जाने को कहा। मैं उक्त संदेशवाहक के साथ उसकी किराए की हुई गाड़ी में बैठा। उसने चंपारन छोड़ने की नोटिस मुझे दी, मुझे अपने स्थान पर ले गया और मेरी सही मांगी। मैंने जवाब लिख दिया कि मैं चंपारन नहीं छोड़ना चाहता और मुझे तो आगे बढ़ना है और जांच करनी है। चंपारन छोड़ देने का हुक्म न मानने के कारण दूसरे ही दिन अदालत में हाजिर होने का समन मिला।

अपनी जांच के लिए यद्यपि मुझे सरकार के निष्पक्ष रहने की जरूरत थी, फिर भी अखबारों में चर्चा होने और उसके संवाददाताओं के रिपोर्टों की जरूरत न थी। इतना ही नहीं, उनके बहुत अधिक टीका-टिप्पणी करने और जांच की लंबी रिपोर्टों से, हानि होने का भय था। इससे मैंने खास-खास अखबारों के संपादकों से प्रार्थना की थी कि वे अपने रिपोर्टर भेजने के खर्च में न पड़ें।

सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे वे लिखे और जो-जो सूचनाएं देनी थीं, वे ब्रजकिशोर बाबू को दीं।

समन की बात क्षण भर में सर्वत्र फैल गई और लोग कहते थे कि मोतिहारी में ऐसा दृश्य देखने में आया जैसा इसके पहले कभी देखने में न आया था। गोरख बाबू के घर और कचहरी में लोग उमड़ पड़े। सौभाग्य से मैंने अपना सब काम रात को निबटा लिया था, इससे इस भीड़ को संभाल सका। साथियों की कीमत मुझे पूरी-पूरी मालूम हुई। वे लोगों को नियम से रखने में जुट गए। कचहरी में जहां जाता वहां दल-के-दल लोग मेरे पीछे आते। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट वगैरा के साथ भी मेरा एक तरह का संबंध जुड़ गया। सरकारी नोटिसों वगैरा के खिलाफ कानूनी विरोध करना होता तो मैं कर सकता था, इसके बजाय मैंने उनकी सब नोटिसों को स्वीकार कर

लिया और अधिकारियों के साथ निजी व्यवहार में मिठास से काम लिया। इससे वे समझ गए कि मुझे उनका विरोध नहीं करना है, बल्कि उनके हुक्म का विनयपूर्वक विरोध करना है। इससे वे मेरी ओर से एक तरह से निर्भय हो गए। मुझे तंग करने के बजाय उन्होंने लोगों को नियम में रखने में मेरी और मेरे साथियों की सहायता का खुशी से उपयोग किया। पर साथ ही वे समझ गए कि उनकी हुकूमत आज से गई। लोग क्षण-भर के लिए दंड का भय छोड़ कर उनके नये मित्र के प्रेम के शासन के अधीन हो गए।

याद रहे कि चंपारन में मुझे कोई पहचानता नहीं था। किसान वर्ग बिल्कुल अपढ़ था। चंपारन गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में नैपाल का निकटस्थ प्रदेश है यानी नई दुनिया है। यहां न कहीं कांग्रेस का नाम सुनाई देता था, न कांग्रेस का कोई सदस्य दिखाई देता था। जिन्होंने नाम सुना था, वे नाम लेने या उसमें शामिल होते डरते थे। आज महासभा (कांग्रेस) के नाम बिना महासभा ने और महासभा के सेवकों ने प्रवेश किया और महासभा की दुहाई फिरी।

गरीबी से, कम-से-कम खर्च रख करके लड़ाई चलानी थी। इससे ज्यादा पैसों की जरूरत नहीं पड़ने वाली थी, वास्तव में पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो या तीन हजार से ज्यादा का खर्च नहीं था। जो इकट्ठा किया था उसमें से 500 रुपए या 1000 रुपए बच जाने का मुझे खयाल आ रहा है।

साथियों से मशविरा करके मैंने निश्चय किया था कि महासभा के नाम से कोई भी काम न किया जाए। हमें नाम से नहीं बल्कि काम से काम है, 'कथनी' नहीं, 'करनी' की जरूरत है। महासभा का नाम यहां अप्रिय है। इस प्रदेश में महासभा का अर्थ है वकीलों की बहसा-बहसी, कानूनी छिद्रों से सटक जाने की कोशिश। महासभा के मानी हैं बमगोला, महासभा के मानी हैं 'कथनी' और, 'करनी' और। ये धारणाएं सरकार और सरकार की सरकार निलहे गोरों

की थीं। महासभा यह नहीं है, वह महासभा दूसरी ही चीज है, यह हमें साबित करना था। इसलिए हमने महासभा का नाम ही कहीं न लेने और लोगों को महासभा के भौतिक देह का परिचय न कराने का निश्चय किया था। हमने सोच लिया था कि वे उसके अक्षर को न जानकर उसकी आत्मा को जानें और अनुसरण करें तो काफी है, यही असल बात है।

अतः महासभा की ओर से गुप्त या प्रकट दूतों के द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं कराई गई थी। राजकुमार शुक्ल में हजारों आदमियां में प्रवेश करने की शक्ति नहीं थी। उनके अंदर किसी ने आज तक राजनीतिक काम किया ही न था। चंपारन के बाहर की दुनिया को वे जानते नहीं थे, फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रों का-सा जान पड़ा। इससे मैंने ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है, पर अक्षरशः सत्य है। इस साक्षात्कार में अपने अधिकार का विचार करता हूं तो मुझे लोगों के प्रति प्रेम के सिवा और कुछ नहीं मिलता। प्रेम अथवा अहिंसा में मेरी अचल श्रद्धा के सिवा और कुछ नहीं।

चंपारन का यह दिन मेरी जिंदगी में ऐसा था जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह मेरे लिए और किसानों के लिए उत्सव का दिन था। सरकारी कानून के अनुसार मुझ पर मुकदमा चलाया जाने वाला था। पर सच पूछिए तो मुकदमा सरकार पर ही चलाया जा रहा था। कमिश्नर ने जो जाल मेरे लिए बिछाया था, उसमें सरकार को ही फंसा दिया।

मुकदमा चला। सरकारी वकील और मजिस्ट्रेट वगैरा घबराए हुए थे। उन्हें सूझता नहीं था कि क्या करना चाहिए। सरकारी वकील सुनवाई मुल्तवी रखने की प्रार्थना कर रहे थे। मैं बीच में पड़ा और विनय की कि मुल्तवी रखवाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मुझे चंपारन छोड़ने की नोटिस का अनादर करने का अपराध कबूल कर लेना है। यह कहकर मैंने जो बहुत ही छोटा-सा बयान तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार थाः

"जाब्ता फौजदारी की दफा 144 के अनुसार दी हुई आज्ञा का स्पष्ट अनादर करने का गंभीर कदम मुझे क्यों उठाना पड़ा? इस विषय में

छोटा-सा बयान अदालत की इजाजत से देना चाहता हूं। मेरी नम्र सम्मति में यह अनादर का प्रश्न नहीं है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेद का प्रश्न है। मैं इस प्रदेश में जन सेवा और देश सेवा के उद्देश्य से ही आया हूं। रैयत से निलहे न्याय का बर्ताव नहीं करते। इस कारण उनकी मदद के लिए आने का मुझसे प्रबल आग्रह किया गया, इसी से मुझे आना पड़ा है। सब बातों को जाने-समझे बिना मैं उनकी मदद कैसे कर सकता हूं? अतः मैं इस प्रश्न का, संभव हो तो सरकार और निलहों की सहायता लेकर, अध्ययन करने आया हूं। मेरा कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है और मेरे आने से लोगों की शांति भंग होगी और खून-खराबा होगा, यह मैं नहीं मान सकता। मेरा दावा है कि इस बारे में मुझे यथोचित अनुभव है। पर सरकार का विचार इस विषय में मुझसे भिन्न है। उसकी कठिनाई मैं समझता हूं और मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि उसे प्राप्त सूचनाओं पर ही भरोसा करना पड़ता है। कानून का आदर करने वाले प्रजाजन की हैसियत से तो मुझे जो हुक्म दिया गया है, उसे स्वीकार करने की स्वाभाविक इच्छा होती है और हुई होती, पर मुझे लगा कि वैसा करने में मैं जिनके लिए यहां आया हूं, उनके प्रति मैं अपने कर्तव्य का घात करूंगा। मुझे लगता है कि उनकी सेवा आज मुझसे उनके बीच में रहकर ही बन सकती है। अतः स्वेच्छा से चंपारन छोड़ना संभव नहीं है। इस धर्मसंकट में मुझे चंपारन से हटाने की जिम्मेदारी मैं सरकार पर डालने को मजबूर हो गया।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई भी निलहों के खिलाफ की जाने वाली शिकायतों में न पड़ें, राजनीति को स्पर्श न करें, शिकायतें करने वाले को मेरे पास भेज दें, कोई भी अपने क्षेत्र से बाहर एक कदम भी न रखे।

"इस बात को मैं अच्छी तरह समझता हूं कि हिंदुस्तान के लोकजीवन में मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखने वाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस परिस्थिति में हम डाल दिए गए हैं,

उसमें मुझ-जैसी परिस्थिति में पड़े हुए स्वाभिमानी मनुष्य के सामने इसके सिवा कोई दूसरा निरापद और मानयुक्त मार्ग नहीं है, सिवा इसके कि आज्ञा का उल्लंघन करके उसके बदले में जो सजा हो, उसे चुपचाप स्वीकार कर ले।

"मुझे आप जो सजा देना चाहते हैं, उसे कम कराने की नीयत से यह बयान मैं नहीं दे रहा हूं। मुझे सहज यह जता देना था कि आज्ञा का उल्लंघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को स्वीकार करता है अर्थात अंतरात्मा की आवाज, उसका अनुसरण करना है।"

अब मुकदमे की सुनवाई मुल्तवी रखने की जरूरत नहीं रही। पर मजिस्ट्रेट या वकील इस नतीजे की उम्मीद नहीं रखते थे। इससे सजा सुनाने के लिए अदालत ने मुकदमे को मुल्तवी रखा। मैंने वाइसराय को सारी स्थिति तार से सूचित कर दी थी। पटना भी तार दिया था। भारतभूषण पंडित मालवीयजी आदि को भी हालात के तार भेज दिए थे। सजा सुनने के लिए अदालत में जाने का समय आने के पहले मेरे पास मजिस्ट्रेट का हुक्म आया कि लाट साहब के हुक्म से मुकदमा वापस ले लिया गया और कलेक्टर का पत्र मिला कि आप को जो जांच करनी हो, वह कीजिए और उसमें अधिकारियों से जिस मदद की जरूरत हो, वह मांग लें। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणाम की आशा हममें से किसी ने नहीं की थी।

चंपारन का यह दिन मेरी जिंदगी में ऐसा था, जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह मेरे लिए और किसानों के लिए उत्सव का दिन था। सरकारी कानून के अनुसार मुझ पर मुकदमा चलाया जाने वाला था। पर सच पूछिए तो मुकदमा सरकार पर ही चलाया जा रहा था। कमिश्नर ने जो जाल मेरे लिए बिछाया था, उसमें सरकार को ही फंसा दिया।

मैं कलेक्टर मि. हेकोक से मिला। वह खुद भला आदमी जान पड़ा और न्याय करने में तत्पर। उसने कहा कि आपको जो कागज, पत्र या

और कुछ देखना हो, वह मांग लें और मुझसे जब मिलना हो मिल सकते हैं।

दूसरी ओर सारे हिंदुस्तान को सत्याग्रह का अथवा कानून के सविनय भंग का पहला स्थानीय पदार्थ पाठ मिला। अखबारों में इसकी खूब चर्चा हुई और चंपारन को तथा मेरी जांच को अकल्पित प्रसिद्धि मिल गई।

अपनी जांच के लिए यद्यपि मुझे सरकार के निष्पक्ष रहने की जरूरत थी, फिर भी अखबारों में चर्चा होने और उसके संवाददाताओं की रिपोर्टों की जरूरत न थी। इतना ही नहीं, उनके बहुत अधिक टीका-टिप्पणी करने और जांच की लंबी रिपोर्टों से, हानि होने का भय था। इससे मैंने खास-खास अखबारों के संपादकों से प्रार्थना की थी कि वे अपने रिपोर्टर भेजने के खर्च में न पड़ें। जितना छापने की जरूरत होगी, उतना खुद मैं भेजता रहूंगा और उन्हें खबर देता रहूंगा।

चंपारन के निलहे खूब खीझे हुए हैं, यह मैं समझता था। अधिकारी भी मन में खुश नहीं होंगे, यह भी मैं समझता था। अखबारों में सच्ची-झूठी खबरें छपने से वे ज्यादा चिढ़ेंगे और उनकी खीझ मुझ पर तो क्या उतरेगी, पर बेचारी गरीब, डरपोक रैयत पर उतरे बिना न रहेगी और ऐसा होने से जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूं, उसमें विघ्न आएगा। निलहों की ओर से विषैला आंदोलन शुरू हो गया। उनकी ओर से अखबारों में मेरे और साथियों के विषय में खूब झूठे प्रचार हुए, पर मेरे अत्यंत सावधान रहने और छोटी-से छोटी बातों में भी सत्य को पकड़े रहने की आदत के कारण उनके तीर खाली गए।

ब्रजकिशोर बाबू की अनेक प्रकार से निंदा करने में निलहों ने तनिक भी कसर नहीं की। पर ज्यो-ज्यों वे उनकी निंदा करते गए, त्यों-त्यों ब्रजकिशोर बाबू की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक स्थिति में रिपोर्टरों को आने के लिए मैंने तनिक भी उत्साह नहीं दिलाया। नेताओं को नहीं बुलाया। मालवीयजी ने मुझे कहला दिया, "जब मेरी जरूरत हो तब बुला लेना। मैं तैयार हूं।" उन्हें भी तकलीफ नहीं दी। इस लड़ाई को कभी राजनैतिक रूप नहीं लेने

दिया। जो कुछ होता था उसकी रिपोर्ट मैं मौके से खास-खास अखबारों को भेज दिया करता था। राजनैतिक काम के लिए भी, जहां राजनीति की गुंजाइश न हो, वहां राजनैतिक रूप देने से 'माया मिली न राम' वाली बात हो जाती है और इस प्रकार विषय का स्थानांतर न करने से दोनों सुधरते हैं। यह मैंने बीसियों बार के अनुभव से देख लिया था। शुद्ध लोक सेवा में प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीति से राजनीति रहती ही है। चंपारन की लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी।

अब इस प्रकरण के विषय पर आना चाहिए। गोरख बाबू के यहां रहकर यह जांच होती तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतिहारी में किराए पर मांगने पर भी कोई झट अपना मकान दे दे, इतनी निर्भयता लोगों में नहीं आई थी। पर चतुर ब्रजकिशोर बाबू ने एक बड़े सहन वाला मकान किराए पर लिया और हम उसमें चले गए।

बिलकुल बिना पैसे के काम चल जाए, ऐसी स्थिति नहीं थी। मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारन की रैयत से एक कौड़ी भी नहीं लेनी है। उससे लेने से गलत अर्थ निकाला जाएगा। यह भी निश्चय था कि इस जांच के लिए हिंदुस्तान में आम जनता से चंदा न मांगूंगा। ऐसा करने से यह जांच राष्ट्रीय और राजनैतिक रूप धारण कर सकती थी। बंबई से कुछ मित्रों का 15,000 रुपए मदद देने का तार आया। उनकी सहायता धन्यवादपूर्वक अस्वीकर कर दी। मैंने निश्चय किया कि चंपारन के बाहर से लेकिन बिहार के ही संपन्न जनों से ब्रजकिशोर बाबू की मंडली जो सहायता प्राप्त कर सके, वह ले लूं और जो कमी रह जाए वह मैं डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता से रुपए लेकर पूरी कर लूं। डाक्टर मेहता ने लिखा था कि जितने रुपए की जरूरत हो मांग लीजिएगा। पैसे के बारे में हम निश्चिंत हो गए। गरीबी से, कम-से-कम खर्च रख करके लड़ाई चलानी थी। इससे ज्यादा पैसों की जरूरत नहीं पड़ने वाली थी, वास्तव में पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो या तीन हजार से ज्यादा का खर्च नहीं था। जो इकट्ठा किया था, उसमें से 500 रुपए या 1000 रुपए बच जाने का मुझे खयाल आ रहा है।

अधिक शक्ति की बड़ी आवश्यकता थी, क्योंकि किसानों के दल-के-दल अपनी कहानियां लिखाने आने लगे। कहानियां लिखने वाले के पास लिखाने वालों की भीड़ लगी रहती। मकान का सहन भर जाता था। मुझे दर्शनार्थियों से सुरक्षित रखने को मेरे साथी बड़े-बड़े प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक नियत समय पर दर्शन देने को मुझे बाहर कर देने पर ही जान छूटती। कहानी लिखने वाले भी कभी छह-सात से कम न होते फिर भी शाम को सबके बयान पूरे न हो पाते। इतने सब लोगों के बयान लेने की जरूरत नहीं थी, फिर भी उसे लिख लेने से लोगों को संतोष हो जाता था और मुझे उनकी भावना का पता चल जाता था।

कहानी लिखने वालों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। हरएक किसान से जिरह करनी चाहिए। जिरह में जो उखड़ जाए उसका बयान न लिखा जाए। जिसकी बात शुरू में ही निराधार लगे उसका बयान न लिया जाए। इन नियमों के पालन से यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था तथापि बयान अधिक सत्य और साबित होने लायक मिलते थे।

ये बयान लेते समय खुफिया पुलिस का कोई कर्मचारी तो रहता ही था। हम उनका आना रोक सकते थे, पर हमने शुरू से ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें आने से न रोकेंगे। इतना ही नहीं, परंतु उनके साथ विनय का बरताव भी करेंगे और देने लायक खबर दे दिया करेंगे। उनके आंख और कान के सामने सारे बयान लिए जाते थे। इसका फायदा यह हुआ कि लोगों में अधिक निर्भयता आई। खुफिया पुलिस से लोग बहुत डरते थे, वह डर चला गया और उनकी निगाह के सामने लिए जाने वाले बयान में अतिशयोक्ति का डर कम रहता था। झूठ बोलने से खुफिया पुलिस वाले उन्हें फंसा देंगे, इस डर से किसानों को सावधान रहकर बोलना पड़ता था। मुझे निलहों को खिझाना नहीं था, बल्कि उन्हें भलमनसी से जीतने का प्रयत्न करना था। इससे जिनके खिलाफ ज्यादा शिकायतें आती थीं, उन्हें पत्र लिखता था और उनसे मिलने की भी कोशिश करता था।

ब्रजकिशोर बाबू और राजेंद्र बाबू की तो जोड़ी बेजोड़ थी। उन्होंने अपने प्रेम से मुझे ऐसा अपाहिज बना दिया कि उनके बिना मैं एक कदम

भी आगे नहीं जा सकता था। उनके शिष्य कहिए या साथी शंभू बाबू, अनुग्रह बाबू, धरणी बाबू और रामनवमी बाबू— ये वकील करीब-करीब सदा साथ ही रहते थे। विंध्या बाबू और जनकधारी बाबू भी जब-तब आया करते। यह तो हुआ बिहारी-संघ। उसका खास काम था लोगों के बयान लेना।

अध्यापक कृपलानी इसमें शामिल हुए बिना कैसे रह सकते थे? खुद सिंधी होते हुए भी वे बिहारी से भी बढ़कर बिहारी थे। ऐसे कम सेवकों को मैंने देखा है, जिनकी शक्ति जिस प्रांत में जाएं, उसमें पूरी तरह घुल-मिल जाने की हो और वह खुद दूसरे प्रांत के हैं, यह किसी को मालूम न होने दें। इनमें कृपलानी एक हैं। उनका खास काम द्वारपाल का था। दर्शन करने वालों से मुझे बचा लेने में उन्होंने इस समय अपने जीवन की सार्थकता मान ली थी। किसी को मजाक करके मेरे पास आने से रोकते थे तो किसी को अहिंसक धमकी से। रात होने पर अध्यापक का धंधा शुरू करते और सब साथियों को हंसाते और कोई कच्चे दिल का आदमी पहुंच जाए तो उसे हिम्मत दिलाते थे।

अध्यापक कृपलानी इसमें शामिल हुए बिना कैसे रह सकते थे? खुद सिंधी होते हुए भी वे बिहारी से भी बढ़कर बिहारी थे। ऐसे कम सेवकों को मैंने देखा है जिनकी शक्ति जिस प्रांत में जाएं, उसमें पूरी तरह घुल-मिल जाने की हो और वह खुद दूसरे प्रांत के हैं, यह किसी को मालूम न होने दें।

मौलाना मजहरुल हक ने मेरे सहायक के रूप में अपना नाम दर्ज करा रखा था और महीने में एक दो फेरे कर जाते थे। उस वक्त उनके ठाठ और दबदबे और आज की उनकी सादगी में जमीन-आसमान का अंतर है। हममें आकर वे अपना दिल मिला जाते थे, पर अपनी साहबी से बाहर के आदमियों को तो हमसे अलग-से लगते।

ज्यों-ज्यों मैं अनुभव प्राप्त करता गया, त्यों-त्यों मुझे दिखाई दिया कि चंपारन में सच्चा काम करना हो तो गांवों में शिक्षा का प्रवेश होना

चाहिए। लोगों का अज्ञान दयनीय था। गांवों के बच्चे मारे-मारे फिरते थे या मां-बाप दो-तीन पैसे की आमदनी के लिए उनसे सारे दिन नील के खेतों में मजदूरी करवाते थे। इस समय पुरुषों की मजदूरी वहां दस पैसे से अधिक नहीं थी। स्त्रियों की छह पैसे और लड़कों की तीन पैसे थी। चार आने की मजदूरी पाने वाला मजदूर भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियों से सलाह करके पहले तो छह गांवों में बच्चों की पाठशालाएं खोलने का निश्चय हुआ। शर्त यह थी कि उन गांवों के मुखिया मकान और शिक्षक का भोजन-व्यय दें। उसके और खर्च हम चलाएं। यहां के गांवों में पैसे की बहुतायत तो नहीं थी, पर अनाज वगैरा देने की लोगों की शक्ति थी। इसलिए लोग कच्चा अनाज देने को तैयार हो गए थे।

अब बड़ा प्रश्न यह था कि शिक्षक कहां से लाए जाएं। बिहार में थोड़ा वेतन लेने वाले या कुछ न लेने वाले अच्छे शिक्षकों का मिलना कठिन था। मेरा ख्याल यह था कि साधारण शिक्षक के हाथ में बच्चों को नहीं देना चाहिए। शिक्षण को अक्षर-ज्ञान भले ही थोड़ा हो, पर उसमें चारित्र्य-बल होना चाहिए।

पर मुझे पढ़ाई के प्रबंध से ही संतोष नहीं करना था। गांव की गंदगी की कोई हद न थी। गलियों में कूड़ा, कुंओं के आसपास कीचड़ और बदबू, आंगनों की ओर देखा नहीं जाता था। बड़ों को स्वच्छता की शिक्षा की जरूरत थी। चंपारन के लोग रोगों से पीड़ित दिखाई देते थे। जितना हो सके उतना सुधार का काम करें और वह करके लोगों के जीवन के हर एक विभाग में प्रवेश करें, यह हमारा विचार था।

इस काम में डाक्टर की मदद की जरूरत थी। इससे मैंने गोखले की सोसायटी से डा. देव की मांग की। उनके साथ मेरी स्नेहगांठ तो बंध ही चुकी थी। छह महीने के लिए उनकी सेवा का लाभ मिला। उनकी देख-रेख में शिक्षकों और शिक्षिकाओं को काम करना था।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई भी निलहों के खिलाफ की जाने वाली शिकायतों में न पड़ें, राजनीति को स्पर्श न करें, शिकायतें

करने वाले को मेरे पास भेज दें, कोई भी अपने क्षेत्र से बाहर एक कदम भी न रखे। चंपारन के इन साथियों का नियम-पालन अद्‌भुत था। ऐसे किसी मौके की मुझे याद नहीं है जब किसी ने दी हुई सूचना का उल्लंघन किया हो।

एक ओर तो समाज सेवा का काम, जिसका मैंने पिछले प्रकरण में वर्णन किया है, हो रहा था और दूसरी ओर लोगों की दुखगाथाएं लिखने का काम चल रहा था और दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। हजारों आदमियों की कहानियां लिखी गईं। इसका असर हुए बिना कैसे रहता? मेरे डेरे पर ज्यों-ज्यों लोगों की आवाजाही बढ़ती गई, त्यों-त्यों निलहों का क्रोध बढ़ता चला। मेरी जांच को बंद कराने की उनकी ओर से होने वाली कोशिशें बढ़ती गईं।

एक दिन मुझे बिहार की सरकार का पत्र मिला। उसका भावार्थ यह था— "आपकी जांच काफी लंबे अरसे तक चल चुकी और अब आपको उसे बंद करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र नरम था, लेकिन मतलब साफ था। जवाब में मैंने लिखा कि जांच अभी और चलेगी और वह पूरी हो जाने पर भी लोगों की तकलीफें जब तक दूर न हों तब तक मेरा इरादा बिहार छोड़ने का नहीं है।

मेरी जांच बंद करने का सरकार के पास मुनासिब इलाज एक ही था और वह यह कि वह लोगों की शिकायतों को सच्ची मानकर उन्हें दूर करे या शिकायतों का लिहाज करके अपनी जांच-कमेटी बैठाए। गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने मुझे बुलाया और खुद जांच-कमेटी नियुक्त करने का इरादा जाहिर किया और उसमें सदस्य होने का मुझे निमंत्रण दिया। दूसरे नाम देखकर और अपने साथियों से सलाह करके इस शर्त पर सदस्य होना कबूल किया कि मुझे साथियों से मशविरा करने की आजादी रहे और सरकार यह समझ रखे कि मैं सदस्य बनकर किसानों का हिमायती न रहूं सो नहीं होगा, और जांच होने के बाद मुझे संतोष न हुआ तो किसानों की रहनुमाई करने की अपनी आजादी भी मैं न छोडूंगा।

सर एडवर्ड गेट ने इन शर्तों को मुनासिब मानकर कबूल कर लिया। स्व. सर फ्रेंक स्लाई इस कमेटी के अध्यक्ष चुने गए थे। जांच-कमेटी ने

किसानों की सब शिकायतों को सही माना, निलहों के अनुचित रीति से लिए हुए रुपयों का अमुक भाग वापस लौटाने की और 'तिनकठिया' पद्धति को रद्द करने की सिफारिश की।

इस रिपोर्ट के मुकम्मल होने और अंत में कानून पास होने में सर एडवर्ड गेट का बहुत बड़ा हिस्सा था। वे दृढ़ न रहे होते या अपनी कुशलता का पूरा उपयोग न किया होता तो जो रिपोर्ट एकमत से तैयार हुई वह न हो पाती और जो कानून अंत में पास हुआ, वह न बन पाता। निलहों की ताकत जबर्दस्त थी। रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने पर भी उनमें से कुछ ने बिल का तीव्र विरोध किया था, पर सर एडवर्ड गेट अंत तक दृढ़ रहे और कमेटी की सिफारिशों पर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार तिनकठिया का कानून, जो सौ साल से चला आ रहा था, टूटा और उसके साथ निलहों का राज्य अस्त हुआ और नील का दाग धोए नहीं धुलता— यह वहम दूर हो गया।

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा
के 12वें से 19वें अध्याय का सारांश

संस्थाएं नारायण-परायण बनें

विनोबा

समाज के कामों में लगी संस्थाओं को, हम लोगों को विनोबा की एक विशिष्ट रचना, सर्वोदय समाज की कल्पना को समझने की कोशिश करनी चाहिए। अपनी इस रचना को सामने रखते हुए वे संस्था, उसके संचालन, उसके लक्ष्य, उसके कोष, पैसे, धेले— सब बातों को सहज ही समेटे ले रहे हैं।

मैं जरा एकांत में रहने वाला मनुष्य हूं। लेकिन जेल में तो समाज में ही रहना हुआ, और उससे सोचने का काफी मसाला मिल गया। वहां सब तरह के लोगों से संपर्क हुआ। उनमें कांग्रेस वाले थे, समाजवादी थे, फॉर्वर्ड ब्लॉक वाले और दूसरे भी थे। देखा कि ऐसा कोई खास दल नहीं, जिसमें दूसरे दलों की तुलना में अधिक सज्जनता दिखाई देती हो। जो सज्जनता गांधीवालों में दिखाई देती है, वही दूसरों में भी दिखाई देती है, और जो दुर्जनता दूसरों में पाई जाती है, वह इनमें भी पाई जाती है। जब मैंने देखा कि सज्जनता किसी एक पक्ष की चीज नहीं, तब सोचने पर इस निर्णय पर पहुंचा कि किसी खास पक्ष या संस्था में रहकर मेरा काम नहीं चलेगा। सबसे अलग रहकर सज्जनता की ही सेवा मुझे करनी चाहिए।

जेल से छूटने के बाद यह विचार मैंने गांधीजी के सामने रखा। उन्होंने अपनी भाषा में कहा— "तेरा अभिप्राय मैं समझ गया। तू सेवा करेगा, लेकिन अधिकार नहीं रखेगा। यह ठीक ही है।" इसके बाद

जिन-जिन संस्थाओं में मैं था, उनसे इस्तीफा देकर अलग हो गया। वे संस्थाएं मुझे प्राण-समान थीं। उनके उद्देश्यों और कार्यक्रमों को अमल में लाने की कोशिश बरसों से मैं करता आया था। उनसे अलग होते समय दुख जरूर हुआ, लेकिन आनंद का भी अनुभव किया, क्योंकि उन संस्थाओं की मदद तो मैं करने वाला ही था।

गांधीजी की मृत्यु के बाद सेवाग्राम में हुई सभा में हमने तय किया कि अपनी संस्था को किसी व्यक्ति का नाम देना ठीक नहीं होगा। इसलिए 'गांधी-संघ' जैसे नामों के बदले 'सर्वोदय-समाज' ही नाम रखा गया।

गांधीजी की मृत्यु के बाद सेवाग्राम में हुई सभा में हमने तय किया कि अपनी संस्था को किसी व्यक्ति का नाम देना ठीक नहीं होगा। इसलिए 'गांधी-संघ' जैसे नामों के बदले 'सर्वोदय-समाज' ही नाम रखा गया। 'संघ' न कहते हुए जो 'समाज' शब्द रखा है, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं, बल्कि इसके पीछे एक विचार है।

'संघ' न कहते हुए जो 'समाज' शब्द रखा है, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं, बल्कि इसके पीछे एक विचार है। 'संघ' शब्द में विशिष्ट अर्थ है। उसमें व्यापकता की कमी है। इसके विपरीत 'समाज' व्यापक है और 'सर्वोदय' शब्द के कारण उसकी व्यापकता परिपूर्ण हो जाती है। अगर 'संघ' नाम रखा जाता तो वह छोटी-सी संस्था बन जाती। फिर उसमें कोई लिया जाता, तो कोई न भी लिया जाता। उसके नियम बनते, अनुशासन रखा जाता और उसे न मानने वालों के विरुद्ध अनुशासन-भंग की कार्रवाइयां होतीं। संघ तो एक ऐसी संस्था है, जिसमें विशिष्ट व्यक्तियों को ही अवसर मिलता है। उसमें वह व्यापकता और स्वतंत्रता नहीं होती, जो मनुष्य के विकास के लिए जरूरी है।

कुछ लोग हमारे सर्वोदय-समाज की योजना की रचना को 'लूज ऑर्गनाइजेशन' यानी शिथिल रचना कहते हैं। रचना को अगर हम शिथिल करें तो कोई काम नहीं बनेगा। इसलिए रचना शिथिल नहीं होनी चाहिए। पर यह शिथिल रचना न होते हुए 'अ-रचना' है, यानी केवल विचार के

आधार पर हम खड़े रहना चाहते हैं। हम किसी को आदेश नहीं देते जिसे वे बिना समझे-बूझे ही अमल में लाएं। साथ ही हम किसी का आदेश कबूल भी नहीं करते, जिस पर बिना सोचे और बिना पसंद किए हम अमल करते जाएं। बल्कि हम तो सलाह-मशविरा करते हैं।

मैं अपनी इस रचना में जितनी ताकत देखता हूं, उतनी और किसी कुशल, स्पष्ट और अनुशासनबद्ध रचना में नहीं देखता। अनुशासनबद्ध दंडयुक्त रचना में शक्ति नहीं होती, यह बात नहीं। लेकिन वह शक्ति नहीं होती, जो शिवशक्ति है।

जब मैं इस दृष्टि से सोचता हूं तो बुद्ध भगवान ने भिक्षु-संघ क्यों बनाए, और शंकराचार्य ने यति-संघ क्यों बनाए— इसका रहस्य खुल जाता है। फिर भी उन संघों के जो अनुभव आए हैं, उनके गुण-दोषों की तुलना कर मैंने अपने मन में यह निर्णय लिया है कि हम ऐसे संघ नहीं बनाएंगे; क्योंकि उनमें उनके गुणों से उनके दोष अधिक होते हैं।

मैंने ऐसी कई संस्थाएं देखी हैं, जिनका आरंभ तो अच्छे उद्देश्य से हुआ, लेकिन आगे उनके कार्यों से ही दोष उत्पन्न होने लगे। फिर उन दोषों का बचाव किया जाता है। वे छिपाकर भी रखे जाते हैं। फिर वृत्ति बदल जाती है और टुकड़े होने लगते हैं। मुझे टुकड़े नहीं चाहिए, अखंड आनंद का अनुभव मुझे लेना है।

लोग आक्षेप करते हैं कि ऐसे ढीले-ढाले संगठन से क्या होगा? मेरे खयाल से वह आक्षेप सही भी है। अगर हम कोई यंत्र चलाना चाहें, तो उसे कसा हुआ होना चाहिए। यदि घर्षण के डर से हम उसे ढीला रखें तो वह यंत्र काम नहीं देगा। इसलिए यदि यंत्र चलाना है तो उसे चुस्त रखा जाए और यह ध्यान रखकर कि उसमें घर्षण होगा, उसमें स्नेहन के लिए तेल डाला जाए।

सर्वोदय समाज के लिए किसी तरह की संघटना की कल्पना नहीं है, इसलिए यह अर्थ नहीं कि हमारा काम बिखरा हुआ होना चाहिए। हमारे पास जो संस्थाएं हैं और जो अलग-अलग काम करती हैं, उन

सबका संगठन हम करने जा रहे हैं। उसी में से 'सर्व-सेवा-संघ' पैदा हो रहा है। हम चाहते हैं कि वही हमारे कार्य का यंत्र हो, और यह 'सर्वोदय-समाज' सहविचार, सहचिंतन, तत्त्व-संकीर्तन और नाम जप का साधन बने। यह यंत्र है ही नहीं। यह अनियंत्रित विचार है। इसे हम विश्व में फैलाना चाहते हैं। जिसे सारे विश्व में फैलना होता है, वह सदेह नहीं विदेह ही हो सकता है। इसीलिए हम उसकी देह नहीं बना रहे हैं। अगर हम उसे सदेह बनाएं तो काम जरूर होगा; लेकिन वह विश्वव्यापी नहीं होगा।

मेरा अपना बुनियादी विचार है कि सद्‌विचार हवा में फैला देना अच्छा है। उसे जमीन में बोने से उसका वृक्ष बनता है। किंतु उसके नीचे चंद लोग ही आकर बैठ सकते हैं; वह सीमित हो जाता है। इसके विपरीत जो विचार हवा में फैलता है, वह हरेक के हृदय को छूता है और कहीं-का-कहीं, दूर-दूर तक चला जाता है। इसके बिना शांतिमय क्रांति नहीं हो सकती।

लोग मुझसे पूछते हैं कि आप किस प्रकार इस सर्वोदय-समाज का संगठन करने जा रहे हैं? मैं जवाब देता हूं कि देश में आज कई संस्थाएं हैं। उनमें और एक संस्था बढ़ाना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं यही चाहता हूं कि जीवन को दिशा देने वाला एक विचार अपने जीवन में दाखिल करें और दूसरे भाई-बहनों को वह समझाएं। यदि हर व्यक्ति के जीवन में वह विचार दाखिल होगा तो सहज ही आग जैसा फैल जाएगा। उसके बदले यदि संस्था खड़ी की जाए तो उसमें स्पर्धा अभिनिवेश आदि का प्रवेश हो सकता है। मैं यह नहीं चाहता। समाज अच्छी तरह संगठित होना चाहिए। परिवार में भी एक समाज रहता है और वह सहज बना होता है। वैसा ही होना चाहिए। फिर भी परिवार में सिर्फ परिवार तक का सोचने की वृत्ति रहती है, इसलिए उसमें संकुचितता आ जाती है। वह बात छोड़ दें, सहजता की बात ही लें तो मेरी कल्पना समझ में आ सकती है।

मैं मानता हूं कि जब लोग पांथिक बंधनों के कारण एक जगह आते हैं तो उनकी कल्याण करने की शक्ति नहीं बढ़ती। जब वे सहज

बंधु-भावना से एकत्र होते हैं, स्थूल संबंधों को गौण मानते हैं, मत की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्त्व देते हैं, बाह्य कर्म की अपेक्षा अंतरवृत्ति को महत्व देते हैं, मनुष्य को मनुष्य के नाते पहचानते हैं, तब कल्याण करने की शक्ति बढ़ती है।

मैंने ऐसी कई संस्थाएं देखी हैं, जिनका आरंभ तो अच्छे उद्देश्य से हुआ, लेकिन आगे उनके कार्यों से ही दोष उत्पन्न होने लगे। फिर उन दोषों का बचाव किया जाता है। वे छिपाकर भी रखे जाते हैं। फिर वृत्ति बदल जाती है और टुकड़े होने लगते हैं। मुझे टुकड़े नहीं चाहिए, अखंड आनंद का अनुभव मुझे लेना है।

मेरा जितना विश्वास सत्य का जप करने में है, उतना संगठन में नहीं। यह नहीं कि संगठन की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। परंतु मनुष्य शुभ विचार जपता और रटता चला जाए तो उसके साथ जरूरी संगठन ऐसे ही पैदा हो जाता है। अगर मैं संगठन बनाता तो मैं संकुचित बन जाता। किंतु मेरा संगठन नहीं है, इसीलिए मैं व्यापक हूं, दुनिया का अंश हूं। दुनिया में और अपने में मैं किसी तरह का भेद ही नहीं मानता। जो अपने अलग-अलग घर और अलग-अलग संस्था बना कर बैठे हैं, उनसे मैं कहता हूं कि आपके घर में और संस्था में मेरी हवा का प्रवेश होने दो तो आपका घर शुद्ध होगा।

यदि हम केवल विचार देने के बजाय संगठन करने बैठें तो हमारे संगठन में शरीक होने वाले ही हमारे रहेंगे। पर मुझे ऐसा नहीं चाहिए। जो खद्दर पहनता है और नहीं भी पहनता, जो शराब पीता और नहीं भी पीता, वे सभी मेरे हैं और मैं उनका हूं। उनके साथ एकरूप होना चाहता हूं। संगठन से यह संभव नहीं।

सत्यनिष्ठा सर्वोदय की बुनियाद है। कुछ लोग कहते हैं कि इससे सर्वोदय-समाज में अधिक लोग नहीं आएंगे। मैं कहता हूं कि ऐसा कहने वाला भगवान की जगह लेना चाहता है पर मैं नहीं ले सकता। आखिर सभी मनुष्यों में शुभ प्रेरणा क्यों पैदा नहीं होगी? होगी, ऐसी ही मैं आशा रखूंगा। लेकिन मान लीजिए कि ऐसी प्रेरणा किसी को भी न हुई और सर्वोदय-समाज हवा में ही रह गया, तब भी यह अव्यक्त कल्पना

विश्व-कल्याण करेगी। इससे विपरीत, सत्यनिष्ठा-विहीन बहुत बड़ी संख्या किसी समाज में शामिल हुई तो भी विश्व-कल्याण की दृष्टि से उसका तनिक भी उपयोग नहीं होगा।

सर्वोदय-समाज का प्रत्येक सेवक सर्व-तंत्र-स्वतंत्र है। उसे किसी प्रकार का बंधन नहीं। अपनी जगह बैठ कर वह अकेला काम कर सकता है। आवश्यक हुआ तो संगठन बनाकर भी काम कर सकता है।

सर्वोदय-समाज एक वैचारिक मंडल है, तो सर्व-सेवा-संघ विशेषज्ञों की आयोजक और कार्यकारी अखिल भारतीय संस्था है। सर्वोदय-समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक 'सर्वाधिकारी सेवक' है। जहां सर्वाधिकार और सेवकत्व दोनों का संगम होता है, वहां अपने-आप सभी दोषों का निरसन और सभी गुणों का आवाहन हो जाता है।

संस्थाओं की मर्यादा होती है। व्यक्ति में जो प्रेरक शक्ति होती है, वह संस्था में नहीं होती। हम कभी-कभी कहते हैं कि संस्थाओं को 'पावर हाऊस' जैसा होना चाहिए। लेकिन 'करंट' ही नहीं होगा तो 'पावर हाऊस' किस काम का? संस्थाओं में ऐसी शक्ति भरने का काम व्यक्ति कर सकता है। सूर्य कभी घर में नहीं रहता है। फिर भी अपनी किरणें घरों के भीतर पैठाता है। ऐसे सूर्यवत् व्यक्ति संस्था के बाहर रहें और उसका मार्गदर्शन करें।

सर्वोदय-विचार की यही खूबी है कि इसमें स्वतंत्र और विभिन्न विचारों का पूरा-पूरा अवसर है। वह विशिष्ट व्यवस्था या विशिष्ट बाह्य आकार का आग्रह नहीं रखता। वह संगठन को ही शक्ति मान नहीं बैठता, पर सत्य की शक्ति पहचानता है। वह इस भ्रम में नहीं पड़ता कि अशक्ति संगठित होते ही शक्ति बन जाती है। आलसी लोगों ने शक्तिशाली बनने का यह सरल तरीका खोज निकाला है। यदि रोगों का संग्रह करने से ही स्वास्थ्य बनता तो न वैद्यों की जरूरत पड़ती, न औषधों की और न पौष्टिक अन्न की ही! पर हिंसा में यह सब खप जाता है। दस लाख की फौज खड़ी करते ही राष्ट्र बलवान बन जाता है। कहा जाता है कि सिपाही जीत गए तो राष्ट्र भी जीत गया! पर यह नहीं कहा जा सकता

कि सिपाही को भोजन मिलते ही राष्ट्र को भी भोजन मिल गया!

सर्वोदय संगठन के पीछे नहीं पड़ता। इसमें भी उसकी अपनी एक दृष्टि है। सर्वोदय का सेवक आवश्यक प्रतीत होने पर स्थानिक संगठन बना सकता है। वह संगठन विचारनिष्ठ ही होगा। उसमें प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से पूर्ण परिचय रहेगा। दंभ के लिए अवसर ही नहीं रहेगा। उसमें अभिमान घुस ही न पाएगा। जब छोटे पैमाने पर कोई चीज बनती है, तो उस समय इन दोषों से बचना सुकर हुआ करता है। किंतु दंभ और अभिमान इतने सूक्ष्म दोष हैं कि चाहे जहां प्रवेश कर सकते हैं। यदि सेवक को दिखाई पड़े कि उसके छोटे से संगठन में भी ये दोष घुसने लगे हैं तो वह उस संगठन को तोड़ भी डालेगा। वैसे तो वह ऐसा प्रसंग आने ही न देगा। किंतु जो भी कुछ वह करेगा, उसका सारा उत्तरदायित्व उसी पर रहेगा।

आजकल जो उठता है, वह अपना अखिल भारतीय संगठन करना चाहता है। फिर विभिन्न प्रांतों में उसकी दस-पांच प्रांतीय शाखाएं खोल दी जाती हैं। फिर दस की सौ जिला शाखाएं हो जाती हैं। लेकिन पत्थर के कितने भी टुकड़े किए जाएं तो भी उसमें से आटा थोड़े ही मिलेगा? जहां शाखा खोलने का संगठन चलता है, वहां सेवा का नाम तक नहीं रहता।

अगर सर्वोदय-समाज की स्थापना करनी हो तो खुद से ही आरंभ करना चाहिए। हममें अगर द्वेष या मत्सर हो तो हमें उसे दूर करना चाहिए। जिसके प्रति द्वेष-मत्सर हो, उसके पास जाकर उससे दोस्ती कर लेनी चाहिए। इस तरह सर्वोदय-समाज का काम व्यक्तिगत तौर पर शुरू हो जाता है। फिर धीरे-धीरे दो-चार मित्र तैयार हो जाते हैं और आगे समूचा गांव तैयार हो जाता है। ऐसे दो-चार गांव मिल जाएं, तो काम बढ़ा सकते हैं। धीरे-धीरे सारा विश्व और सारा ब्रह्मांड भी संगठित हो सकता है। तभी वह संगठन मूल से, अंतःप्रेरणा से और स्वाभाविक रूप से हुआ समझा जाएगा।

यदि हम केवल विचार देने के बजाय संगठन करने बैठें तो हमारे संगठन में शरीक होने वाले ही हमारे रहेंगे। पर मुझे ऐसा नहीं चाहिए।

जो खद्दर पहनता है और नहीं भी पहनता, जो शराब पीता और नहीं भी पीता, वे सभी मेरे हैं और मैं उनका हूं। उनके साथ एकरूप होना चाहता हूं। संगठन से यह संभव नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि संस्था बनानी ही नहीं चाहिए। जरूरत पड़ने पर सर्वोदय-समाज के लोग छोटी-सी संस्था बना सकते हैं। लेकिन ऐसी संस्था संगठन नहीं, बल्कि एक व्यवस्था भर होगी, जैसे किसी परिवार में होती है। वैसी संस्था में चार-छह कार्यकर्ता साथ रह कर काम कर सकते हैं। आपस में मिलकर काम करने के लिए किसी एक सूत्र की आवश्यकता पड़ती है, और वह सूत्र है— सत्य और अहिंसा।

संगठना अहिंसा की भी होती है। लेकिन उसका अपना एक ढंग है। और वह ढंग इतना न्यारा है कि उसको संगठना नाम देना भी उचित नहीं होगा। अहिंसा की जो संगठना होती है उसमें यह खूबी होती है कि सलाहकार सलाह देते हैं, जिनको वह सलाह जंचती है, वे उस पर अमल करते हैं। और क्योंकि वह सलाह उनको जंचती है, इसलिए बहुत निष्ठापूर्वक वे उस पर चलते हैं। इस तरह यह एक उत्तम और मजबूत संगठना होती है। दूसरी संगठनाओं में यह होता है कि ऊपर से सलाह नहीं, आज्ञा आती है। उस आज्ञा का पालन अगर कोई करता है तो यह नहीं कह सकते कि पूर्ण श्रद्धा से वह करता है।

संगठन दो प्रकार के होते हैं। एक शक्ति से, अनुशासन लाद करके; और दूसरा प्रेम से। प्रेम से संगठन 'होते' हैं, शक्ति से संगठन 'किए जाते' हैं। अब सवाल यह है कि जैसे शक्ति सामूहिक तौर पर काम कर रही है, वैसे सामूहिक तौर पर प्रेम काम कर सकता है क्या? इसमें प्रेम की कसौटी है। अहिंसा में शिथिलता नहीं होगी। उसमें सहज-संगठन होगा। और वह 'किया' नहीं जाएगा, बल्कि 'होगा'; और इतना मजबूत होगा कि उस संगठन की बराबरी हिंसा नहीं कर सकेगी। हिंसा में संगठन लादा जाता है; अहिंसा में वह अनायास हो जाता है। इसलिए वह मजबूत बनता है।

किसी हुक्म के ताबेदार होकर नहीं, लेकिन हम हिल-मिलकर, एकत्र होकर बैठें, चर्चा करें और तब जो निर्णय हो, वह हमें आज्ञा से भी

अधिक शिरोधार्य होना चाहिए। यह कैसे संभव है, इसका विचार करता हूं तो मुझे ईसा का वचन याद आता है— ऍग्री विथ् दाइन ऍडवर्सरी क्विकली— 'जिसका तेरे साथ मतभेद है, उसके साथ तू जल्दी-से-जल्दी सहमत हो जा।' इसमें सामने वाले के साथ जुड़ जाने की, मेल साधने की जो कुशलता है, वह अहिंसा में आनी चाहिए।

मुझे जो महत्त्व की बात लगती है, वह यह है कि आज व्यूहरचना और समूहशक्ति, ये जो प्रमुख शक्तिसाधन माने जाते हैं— उससे मैं सहमत नहीं हूं। अहिंसा इन दोनों पर निर्भर नहीं करती। वह तो आत्मशुद्धि पर निर्भर रहती है।

आप स्थानिक संस्थाएं खड़ी कर सकते हैं। लेकिन जहां अखिल भारतीय संस्था खड़ी करने की बात आती है, वहां अनुशासन आता है और फिर सारा मामला 'बोगस' हो जाता है। हम इससे मुक्त रहना चाहते हैं। जब व्यापक संस्था निकम्मी होती है तो उसका नाहक अभिमान ही पैदा होता है और काम नहीं होता। हर कोई अपना अलग-अलग पंथ बनाते हैं। यानी सारी दुनिया से अलग रहते हैं। अगर हम कोई खास संस्था बनाते तो आज हमें जो सहयोग मिल रहा है, वह न मिलता।

जब कोई अभिमानी संगठन पैदा होता है तो वह हिंसक शक्ति का आह्वान करता है। उसकी प्रतिध्वनि दूसरी ओर गूंज उठती है। इस प्रकार अगर दुनिया में अनेक हिंसक शक्तियां या अभिमानी संगठन पैदा होते हैं तो शक्ति का योग नहीं घटाव ही होता है। हिंसक और अभिमानी संगठन एक दूसरे का क्षय करते रहते हैं, एक दूसरे को पुष्ट नहीं करते। जो संगठन अभिमान पर खड़े होते हैं वे कुल मिलाकर दुनिया की शक्ति का क्षय ही करते हैं, दुनिया को उन्नत नहीं करते।

बाबा कहता है कि व्यक्ति पर उसका विश्वास है, संगठन पर नहीं। कारण व्यक्ति चैतन्यमय है, संगठन नहीं। संस्थाओं की मर्यादा होती है। व्यक्ति में जो प्रेरक शक्ति होती है, वह संस्था में नहीं होती। हम कभी-कभी कहते हैं कि संस्थाओं को 'पावर हाऊस' जैसा होना चाहिए। लेकिन 'करंट' ही नहीं होगा तो 'पावर हाऊस' किस काम का? संस्थाओं में ऐसी शक्ति भरने का काम व्यक्ति कर सकता है। सूर्य कभी हमारे घर

में नहीं रहता है। फिर भी अपनी किरणें हम सबके घरों के भीतर पैठाता है। ऐसे सूर्यवत् व्यक्ति संस्था के बाहर रहें और उसका मार्गदर्शन करें।

विधानबद्ध संस्थाएं विचारक्रांति का काम करेंगी, यह अपेक्षा ही गलत है। विचारक्रांति मनुष्यों द्वारा होती है। संस्थाओं में मनुष्य नहीं, 'मैंबर' होते हैं। एक होता है चंदा देने वाला मैंबर। वह पैसा देकर छुट्टी पाता है। काम के साथ बंधा हुआ होता ही नहीं है। दूसरा होता है कार्यकारी मैंबर। वह चंदा देने वाले मैंबर बनाकर कृतकार्य होता है। तीसरा होता है कामकाजी मैंबर। वह दफ्तर संभालता है, पत्र लिखता है, पत्रक निकालता है, ऊपर से आए हुए हुक्म का बंदा होता है। और हुक्म देने वाला होता है, पार्टी के अनुशासन का कार्यवाहक। विचार करने की जिम्मेवारी किसी की नहीं है। किसी को विचार करने की फुर्सत नहीं है और किसी को नए विचार की छूट भी नहीं है। ऐसे पक्के बंदोबस्त में विचारक्रांति की जो अपेक्षा करेगा, वह बहुत करके पढ़ा-लिखा आदमी होगा! इसलिए उसे समर्थ रामदास की भाषा में 'पढ़तमूर्ख' कहना चाहिए।

आजकल जो उठता है, वह अपना अखिल भारतीय संगठन करना चाहता है। फिर विभिन्न प्रांतों में उसकी दस-पांच प्रांतीय शाखाएं खोल दी जाती हैं। फिर दस की सौ जिला शाखाएं हो जाती हैं। लेकिन पत्थर के कितने भी टुकड़े किए जाएं तो भी उसमें से आटा थोड़े ही मिलेगा? जहां शाखा खोलने का संगठन चलता है, वहां सेवा का नाम तक नहीं रहता।

मैं निधि मुक्ति को बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं देता। मुख्य बात हमारा तंत्र तोड़ना है। हमारा विश्वास है कि इस शरीर को, इस ढांचे को, तंत्र को कायम रखते तो काम तो जरूर होता; पर वह सीमित होता। वह अनंत-अपार न फैलता। इसीलिए हमने उस तंत्र को तोड़ा। जैसे पौधे के आसपास बाड़ लगाते हैं, पर पौधा बढ़ने पर उसे निकाल देते हैं, वैसे ही हमने यह किया है। गांधी-विचार कोई एकांगी विचार तो नहीं, एक समग्र विचार है। इसके लिए अलग संगठन की कोई जरूरत नहीं।

संस्था और आंदोलन दोनों की कल्पना विचार को मूर्तरूप देने के

लिए की गई है। फिर भी दोनों में एक मूलभूत फर्क है। आंदोलन अगर ठीक ढंग से चलाया जाए तो वह विचार को मूर्तरूप दे सकता है। संस्था विचार को मूर्तिरूप देती है। दोनों का फर्क थोड़े में मैं इस तरह बतलाऊंगाः आंदोलन भी अगर ठीक ढंग से न चलाया जाए तो विचार को विकृतरूप दे सकता है। संस्था अच्छी तरह चलाए जाने पर भी केवल यम-प्रधान नहीं रह सकती; नियम प्रधान बन जाती है। इसलिए मूर्ति से नहीं बच सकती। मूर्ति बुरी ही होगी, ऐसी बात नहीं। अच्छी भी हो सकती है। परंतु अच्छा गृहस्थाश्रम भी जिस प्रकार संन्यास से ही कृतार्थ होता है, उसी प्रकार अच्छी मूर्ति-उपासना भी विसर्जन से ही पूर्ण होती है।

प्रयोजनवश स्थानिक संस्थाएं बनाने में मेरा विरोध नहीं है क्योंकि आवश्यकता पूर्ण होने पर उनका विसर्जन किया जा सकता है। जिसका विसर्जन कठिन मालूम होता हो, उसका आवाहन करने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए।

हम संस्था खड़ी करते हैं। वह हमारी आंखों के सामने ही निस्तेज हो जाती है। उसका जीवन रस सूख जाता है। ऐसा क्यों? नित्य नया जीवनरस उन्हें क्यों नहीं मिलता रहता? इसके कारणों की खोजबीन करता हूं तो दीखता है अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते— अंगूठे जितने गहरे पानी में हम खेलते रहते हैं। हमारे दर्शन में गहराई नहीं रहती।

ईश्वर और उसके कार्य के बीच अगर कोई संगठन खड़ा होता है तो कभी-कभी वह बाधक भी हो जाता है। मेरा अपना बुनियादी विचार है कि सद्विचार हवा में फैला देना अच्छा है। उसे जमीन में बोने से उसका वृक्ष बनता है। किंतु उसके नीचे चंद लोग ही आकर बैठ सकते हैं; वह सीमित हो जाता है। इसके विपरीत जो विचार हवा में फैलता है, वह हरेक के हृदय को छूता है और कहीं-का-कहीं, दूर-दूर तक चला जाता है। इसके बिना शांतिमय क्रांति नहीं हो सकती।

अभी महाराष्ट्र की कुछ संस्थाओं के संचालक मुझसे मिले थे। उनसे चर्चा हुई। उसमें एक महत्त्व का सवाल यह उठा कि महाराष्ट्र में और पूरे

देश में ही खादी, ग्रामोद्योग, नई तालीम, अस्पृश्यता-निवारण, महिला-सेवा आदि रचनात्मक कार्य कई सालों से चल रहे हैं और उन्हें अब सरकारी मदद भी मिलने लगी है। लोगों को उनसे कुछ लाभ भी मिला है। लेकिन वे कार्य प्राणवान नहीं लगते। ऐसा क्यों होता है और इस का उपाय क्या है?

इस संबंध में मेरा चिंतन सतत् चलता रहता है। कई संस्थाएं मैंने देखी हैं। कई संस्थाओं का अनुभव मैंने लिया है। संस्थाओं का काम कैसे चलता है, इसका निरीक्षण करके मैं कुछ निश्चित विचार पर पहुंचा हूं। हमारी संस्थाएं प्राणवान क्यों नहीं दीखतीं, वे ज्यादा समय क्यों नहीं चलतीं, उनमें स्थैर्य क्यों नहीं रहता, इस बारे में मेरे विचार स्पष्ट हैं।

हम संस्था खड़ी करते हैं। वह हमारी आंखों के सामने ही निस्तेज हो जाती है। उसका जीवन-रस सूख जाता है। ऐसा क्यों? नित्य नया जीवन-रस उन्हें क्यों नहीं मिलता रहता? इसके कारणों की खोजबीन करता हूं तो दीखता है अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते— अंगूठे जितने गहरे पानी में हम खेलते रहते हैं। हमारे दर्शन में गहराई नहीं रहती। इसलिए हमारा सार्वजनिक कार्य देखते-देखते घर-संसार जैसा बन जाता है। सार्वजनिक कार्य करने वाले गहराई से नहीं सोचते। दुखमूल खोजने की गहराई में नहीं जाते।

हमारी संस्थाओं का जीवन-रस शीघ्र ही सूख जाता है। इसका एक कारण यह है कि हम कर्मयोग में पड़े हैं। कर्मयोग में लाभ के साथ उसकी हानियां भी आती हैं। गो सेवा करनी है तो गायों के लिए खेत चाहिए, फिर उसके साथ चर्मालय भी चाहिए। यह होने से तेलघानी, ग्रामोद्योग, खादी आदि को भी हम खड़ा कर सकते हैं। उसके वास्ते 5-50 आदमियों की जरूरत होती है। इस तरह कर्म की अधिकता के कारण हमारा विचार और तत्त्वनिष्ठा कम पड़ती जाती है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बुद्ध, महावीर आदि के अनुयायियों में जो कई दोष थे, वे हमने सुधारे जरूर हैं, परंतु वे लोग आत्मज्ञान की जिन गहराईयों तक जाते थे, वहां हमारी पहुंच नहीं है। इसीलिए आज हमारा काम ऊपर से भारी बन जाता है, परंतु उसका मुख्य तत्त्व गायब हो जाता है। मनुष्य चला जाता है तो केवल

संस्था रहती है, जो निस्तेज बनती जाती है। परिणामतः हम बहुत ही ऊपर से देखने लग जाते हैं।

हम यह मान लेते हैं कि खुद के लिए हम परिग्रह न करें, लेकिन संस्थाओं के लिए कर सकते हैं। हिंसावादी भी एक व्यक्ति के लिए हिंसा करना उचित नहीं मानता, लेकिन समाज और राष्ट्र के लिए हिंसा करने में पाप भी नहीं समझता। हम भी संस्था के लिए परिग्रह क्षम्य मानते हैं।

बापूजी के जाने के बाद यह बात मेरे ध्यान में आई कि आज तक हमारी संस्थाएं पैसे के आधार पर चलती रहीं, लेकिन वह जमाना गया कि संस्थाएं पैसे के आधार पर चलाई जाएं। अब नया जमाना आया है। इसलिए जहां तक हो सके, वहां तक हमें अपनी इन संस्थाओं को पैसे से मुक्त रखना चाहिए। तभी नया चैतन्य आ सकेगा। तभी सारे गांव का उद्धार हो सकेगा। इसका परिणाम सरकार पर भी पड़ेगा।

यदि गांव की संस्थाएं अपने लिए खास सुविधाएं प्राप्त करें और गांव से अलग जैसी दिखने लगें, तो संन्यासियों की तरह समाज से बिल्कुल अलग, खतरे के सिग्नल जैसी ही दिखेंगी! सेवकों को तो लोकजीवन में एकदम घुल-मिल जाना चाहिए।

मैं मानता हूं कि हमारी संस्थाएं नारायण-परायण होनी चाहिए। वैसे आज भी उनकी आजीविका लोगों के आश्रय पर ही निर्भर है। स्वराज्य के बाद कई संस्थाएं सरकार से मदद लेती हैं। सरकार की मदद हम दूसरे-तीसरे काम में भले ही लें, परंतु कार्यकर्ताओं की आजीविका का भार सरकार की मदद पर रहेगा तो उससे नारायण-परायणता नहीं आएगी। संस्थाएं निधि पर, संचित निधि पर रहेंगी तो साक्षात् जनतारूप नारायण का आधार नहीं होगा। इसलिए दूसरे कामों में भले ही सरकार की या निधि की मदद लें, किंतु कार्यकर्ताओं के भरण-पोषण का आधार उन पर नहीं रहेगा, तब अपनी संस्थाओं में प्राणतत्त्व दाखिल होगा।

कुछ थोड़ी संस्थाएं ऐसी हैं, जो आत्मनिर्भर हैं। कुछ संस्थाएं कुछ उद्योग करती हैं और उससे जो मिलता है, उस पर उसके कार्यकर्ता निर्भर

रहते हैं। इस तरह जिनका आधार श्रम अथवा उद्योग पर रहता है, उनमें परावलंबन का अवगुण तो नहीं आता, परंतु मुझे यह भी गौण मालूम होता है। ऐसी संस्थाएं स्वावलंबी हों तो भी नारायणावलंबी नहीं होतीं। इनमें काम करने वाले आलसी नहीं होते, दिनभर काम करते हैं, परंतु वे अपने ही काम में मशगूल रहते हैं। जनता की परवाह करने की कोई जरूरत उन्हें महसूस नहीं होती है। इसलिए मैं चाहता हूं कि हमारे सेवक साक्षात् लोकसम्मति पर ही अपना आधार रखें और नारायण पर ही उनका जीवन निर्भर रहे।

सरकार पर या निधि पर अवलंबन मैं पसंद नहीं करता। इन दोनों से स्वावलंबन का स्थान ऊंचा है, परंतु वह भी संकुचित विचार है। गीता कहती है कि जो अपने खुद के लिए रसोई बनाकर खाता है, वह पाप खाता है। इसका अर्थ मैं यह समझा हूं कि सेवक अपना सब कुछ समाज को समर्पण करे और समाज की तरफ से जो मिले, उसे प्रसाद समझकर ग्रहण करे। इस वृत्ति से कार्यकर्ता और संस्थाएं अपना काम चलाएंगी, तो उस कार्य में जान आएगी।

यदि गांव की संस्थाएं अपने लिए खास सुविधाएं प्राप्त करें और गांव से अलग जैसी दिखने लगें, तो संन्यासियों की तरह समाज से बिल्कुल अलग, खतरे के सिग्नल जैसी ही दिखेंगी! सेवकों को तो लोकजीवन में एकदम घुल-मिल जाना चाहिए।

जिस तरह शरीर में आत्मा होती है, उसी तरह संस्थाओं में भी एक शरीर और एक आत्मतत्त्व हुआ करता है। जिन विचारों को लेकर कोई संस्था खड़ी होती है, वही उसका आत्मतत्त्व है। वह दिन-प्रतिदिन विकसित होते रहना चाहिए। यह ध्यान में रखने की बात है। शरीर और संस्था दोनों साधक भी हो सकते हैं, बाधक भी। उनको साधक बनाना अपनी कला है। संस्था का जो तंत्र है, वह उसकी देह है और उसका जो मूल मंत्र है, वह उसकी आत्मा है। तंत्र में अपना आग्रह नहीं रखना, मंत्र छोड़ना नहीं और मंत्र के मुताबिक काम करते जाना— नियमित, परिमित, सतत्।

हमारा काम है, समाज में एक विशिष्ट विचार प्रचलित करना, उसके अनुसार जीवन बनाना। इसलिए उसका मूल स्रोत अत्यंत निर्मल होना

चाहिए गंगोत्री में पानी अत्यंत निर्मल होता है। फिर आगे चलकर जो होना है, सो होने दो। व्यापक काम में आगे कुछ भी हो सकता है, परंतु मूल में स्रोत शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। सर्व-सेवा-संघ मूल स्रोत है, यद्यपि वह एक व्यापक संस्था है। मूल स्रोत में हम अत्यंत निर्मल हों। उस दृष्टि से हम विधान कायम रखें और संकेत (परिपाठी) बदलें। या संकेत भी बदलें और विधान भी बदलें। दोनों बातें ठीक हैं। परंतु शासनमुक्त समाज की बात हम करते हैं तो फिर विधान ही उड़ जाता है। तिस पर यह भी होता है कि संस्था भी उड़ जाती है। फिर भी आज हम संस्था चलाते हैं, तो ऐसी चलाएं कि दुनिया में संस्था के जो दोष माने जाते हैं, वे उसमें न रहें। दुनिया में संस्था के जो माने हुए दोष हैं, उनमें बहुमत और अल्पमत का भी दोष है। यह तो हममें होना ही नहीं चाहिए।

अंतिम हालत में तो वह नहीं ही होना चाहिए। परंतु हमने कहा था कि बीच के काल के लिए कई सीढ़ियां हो सकती हैं। हम अपनी सारी परिस्थिति देखकर ही सीढ़ियां तय करें। परंतु मूल में विचार यह है कि विधान और संकेत में हम फर्क ही क्यों करें? इस तरह फर्क करके एक परम आश्रय और एक साधारण आश्रय, ऐसा क्यों माना जाए? हम इच्छा करते हैं कि अधिक-से-अधिक एकमत से काम हो। फिर उसमें विधान और संकेत का भेद न हो।

बिलकुल वैदिक जमाने में भी भगवान का वर्णन किया— गणानां त्वा गणपतिं हवामहे— हे भगवान्, तू गण-पति है और हमारा यह गण है। मतलब, हमारे गण में कोई मनुष्य गण-पति नहीं, भगवान गण-पति है। गायत्री मंत्र में भगवान से प्रार्थना की तो 'मेरी बुद्धि को प्रेरणा दे' नहीं कहा, 'हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें' कहा। तो उस जमाने में गणसेवकत्व था। यानी उसका विचार था। फिर बुद्ध और महावीर ने गणसेवकत्व स्थापित किया। उसके बाद शैव और वैष्णवों ने कुल भारत में जो काम किया, वह नेतृत्व के आधार पर नहीं, गणसेवकत्व के आधार पर किया।

'गणसेवकत्व' का अर्थ कुछ लोग 'मास लीडरशिप' समझते हैं। कुछ लोग गण यानी जनता की सेवा का कर्तव्य-भावना से अपना अभिक्रम लेने की बात समझते हैं। कुछ लोग अधिकार-भावना तथा बदले की अपेक्षा

से रहित सेवा करना आदि समझते हैं। अतः इसमें कुछ अधिक स्पष्टता की जरूरत है।

इसमें लीडरशिप है ही नहीं। हम सारे सह-विचारक हैं। यह जरूरी नहीं कि आपका और मेरा विचार एक ही हो। हम सह-विचारक हैं, बैठकर विचार करते हैं, अपनी राय भी जाहिर करते हैं, सर्वानुमति देखते हैं और उसके अनुकूल हो जाते हैं। फिर काम में पूरा सहयोग देते हैं। एक बार पहले अपना मत जाहिर कर दिया था, अब काम में कोई विरोध नहीं करते, यह है गणसेवकत्व। इसकी उत्तम मिसाल है, अपना शरीर। उसमें अन्योन्य सहयोग चलता है। एक दूसरे के लिए त्याग की भावना होती है। महत्त्व सबका है, लेकिन फिर भी सब जानते हैं कि अपना बचाव किसमें है। इसलिए सिर पर प्रहार होता है तो हाथ अपने आप सामने आ जाता है। वह जानता है कि शरीर को मेरी आवश्यकता सिर की अपेक्षा कम है। इसलिए वह सामने आता है। अगर यह न जाना जाए तो विवेक ही नहीं है, ऐसा कहा जाएगा। गणसेवकत्व में भी यह बात रहेगी। अपनी-अपनी शक्ति क्या है, इसकी समझ सबको है, अहंकार नहीं है। पहचान है कि मेरा क्या स्थान है, नम्रता है; हर कोई जानता है कि मेरा क्या उपयोग है। यह है गणसेवकत्व का लक्षण। गणसेवकत्व में मुख्य आधार प्रेम का रहेगा। और इसलिए नेतृत्व की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्ति इसमें आएगी। और वह भारत की अपनी शक्ति है।

हर आंदोलन में नेताओं की आवश्यकता रहती है। लेकिन अहिंसक आंदोलन केवल नेताओं पर निर्भर नहीं रह सकता, नहीं रहना चाहिए। न वह संस्थाओं पर निर्भर रहना चाहिए। विचार के नेतृत्व में परस्पर अनुराग से संलग्न कार्यकर्ता मुक्तभाव से सतत काम करते चले जाएं तो उससे अहिंसक क्रांति का दर्शन हो सकता है। अहिंसक क्रांति के काम में नेतृत्व या प्रभुत्व नहीं, गणसेवकत्व ही हो सकता है।

आगे का युग नेतृत्व का नहीं, गणसेवकत्व का युग है। सारे समाज का चित्त ऊंचा उठाना होगा। भले वह उतना ऊपर न उठे, जितना किसी व्यक्ति का उठ सकता है; फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी।

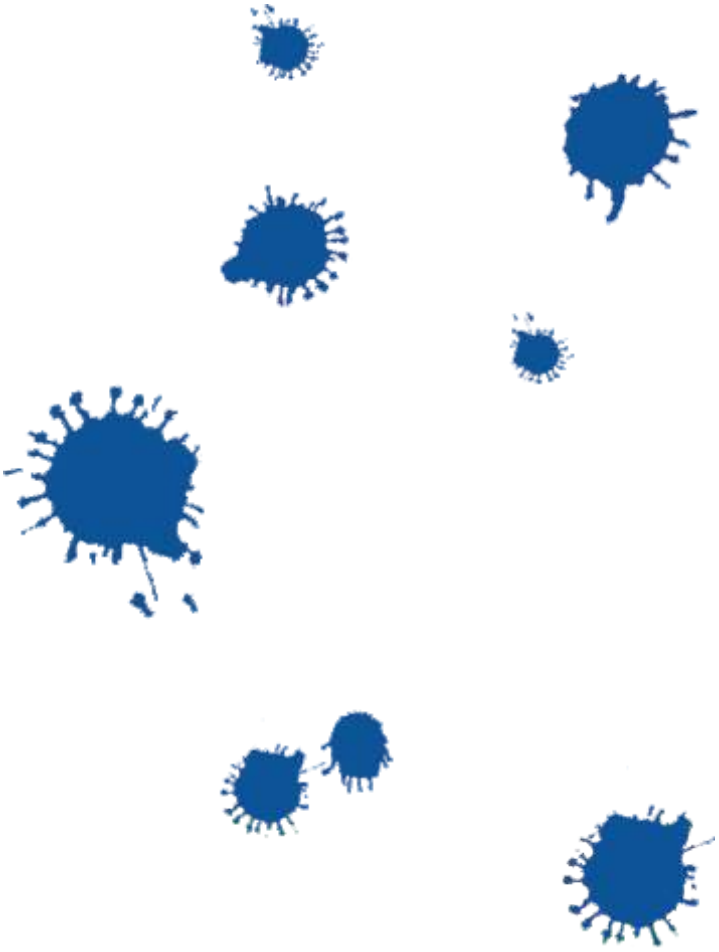

लेख 'नील का धब्बा' और 'संस्थाएं नारायण-परायण बनें'
गांधी शांति प्रतिष्ठान की पत्रिका 'गांधी मार्ग' के वर्ष 51 अंक 2 और वर्ष 52 अंक 1 से साभार।
गांधी मार्ग के एक पाठक द्वारा वितरित

संपादन: अनुपम मिश्र ☐ चित्र: दिलीप चिंचालकर ☐ मुद्रण: सिस्टम्स विज़न
जनवरी 2010